१२

वसुधैव कुटुम्बकम् : बूंद नहीं, सागर

भारतीय संस्कृति में आज हजारों वर्षों के बाद भी कंस और कूणिक के प्रति जनसाधारण में घृणा और तिरस्कार का भाव विद्यमान है। मैं समझता हूँ, वह घृणा और तिरस्कार उनकी इच्छा-दासता और स्वार्थवृत्ति के प्रति है। भारतीय-संस्कृति का स्वर उद्घोषणा करता रहा है––मनुष्य, तेरा आनन्द स्वयं के सुख भोग में नहीं है, स्वयं की इच्छापूर्ति में ही तेरी परितृप्ति नहीं है, बल्कि दूसरों के सुख में ही तेरा आनन्द छिपा हुआ है, दूसरों की परितृप्ति में ही तेरी परितृप्ति है। तेरे पास जो धन है, सम्पत्ति है, शक्ति है, बुद्धि है, वह किसलिए है? तेरे पास जो ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि है, उसका हेतु क्या है? क्या स्वयं की सुख-सुविधा के लिए ही यह सब-कुछ है? अपने सुख-भोग के लिए तो एक पशु भी अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, अपनी बुद्धि और बल से स्वयं की सुरक्षा करता है, इच्छापूर्ति करता है। फिर पशुता और मनुष्यता में अन्तर क्या है? मनुष्य का वास्तविक आनन्द स्वयं के सुखोपभोग में नहीं, बल्कि दूसरों को अर्पण करने में है। मनुष्य के पास जो भी उपलब्धि है, वह अपने बन्धु के लिए, अपने पड़ोसी के लिए भी है। अपने ही समान दूसरे चैतन्य को समर्पण करने में जो सुख और आनन्द की अनुभूति होती है, वही सच्ची मनुष्यता है।

बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण का नाम आपने सुना होगा? एक व्यक्ति उनकी उदार एवं दयालु माता के दर्शन करने के लिए घर पर पहुँचा। जब विद्याभूषण की माता उस श्रद्धालु सज्जन के सामने आई, तो वह आँखें फाड़-फाड़ कर उनके हाथों की ओर देखने लगा। माताजी ने उसकी इस उत्कट जिज्ञासा का कारण पूछा, तो वह बोला––"सतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे धनाढ्य विद्वान् की माँ के हाथों में हीरे और मोती के स्वर्ण-आभूषण की जगह पीतल के आभूषण देखकर मैं चकित हूँ कि यह क्या है, क्यों है? आपके हाथों में ये शोभा नहीं देते।"

माता ने गम्भीरता से कहा––"बेटा! इन हाथों की शोभा तो दुष्काल के समय बंग पुत्रों को मुक्त-भाव से अन्न-धन अर्पण करने में रही है। सेवा ही इन हाथों की सच्ची शोभा है। सोना और चाँदी हाथ की शोभा और सुन्दरता के कारण नहीं होते, बेटा!"

मनुष्यता का यह कितना विराट् रूप है! जो देवी अपने हाथ के आभूषण तक उतार कर भूखे-प्यासे बन्धुओं के पेट की ज्वाला को शान्त करती है, उनके सुख में ही अपना सुख देखती है, वह वस्तुतः मानव देहधारिणी सच्ची देवी है।

भारतीय-संस्कृति में यह समर्पण की भावना, करुणा और दान के रूप में विकसित हुई है। करुणा मानव-आत्मा का मूल स्वर है। किन्तु खेद है, उस करुणा का जो सर्वव्यापक और सर्वग्राही रूप पहले था, वह आज कुछ सीमित एवं संकीर्ण विधि-निषेधों में सिमट कर रह गया है। करुणा का अर्थ संकुचित हो गया है, काफी सीमित हो गया है। करुणा और दया का अर्थ इतना ही नहीं है कि कुछ कीड़ों-मकोड़ों की रक्षा करली जाए, कुछ बकरों और गायों को कसाई के हाथों से छुड़ा लिया जाए और अमुक तीर्थक्षेत्रों में मछली मारने के ठेके बन्द कर दिए जाएँ। अहिंसक-समाज-रचना की भावना, जो आज हमारे समक्ष चल रही है, उसका मूल अभिप्राय समझना चाहिए। यह ठीक है कि पशु-दया भी करुणा का एक रूप है, पर करुणा और अहिंसा की यहीं पर इतिश्री नहीं हो जानी चाहिए, यह तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रारम्भ है। उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और बहुत विशाल है। हमें व्यापक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ना है। अपने मन की करुणा को आस-पास के समाज में बाँटते चलो। जो सुख-साधन और उपलब्धियाँ आपके पास हैं, उन्हें समाज के कल्याण-मार्ग में लगाते चलो। समाज की सेवा में समर्पण का जो दृष्टिकोण है, वह एक व्यापक दृष्टिकोण है। व्यक्ति सामाजिक जीवन के दूर किनारों तक अपने वैयक्तिक जीवन की लहरों को फैलाता चलेगा, उन्हें समाज के साथ एकाकार करता चलेगा, वह जितना ही आगे बढ़ेगा, जितना ही अपने सुख को समाज के सुख के साथ जोड़ता चलेगा, उतना ही व्यापक बनता चला जाएगा। व्यक्ति-भाव का क्षुद्र घेरा तोड़कर समाज-भाव एवं विश्व-भाव के व्यापक क्षेत्र में उतरता जाएगा।

वैदिक-दर्शन में ईश्वर को सर्वव्यापक माना गया है। वह व्यापकता शरीर-दृष्टि से है, अथवा आत्म-दृष्टि से या भाव-दृष्टि से है ? चूंकि यह भी माना गया है कि हर आत्मा परमात्मा बन सकती है। प्रत्येक आत्मा में जब परमात्मा बनने की योग्यता है, तो वस्तुतः आत्मा ही ईश्वर है। आत्मा आवरण से घिरी हुई है, इसलिए जो अखण्ड आनन्द का स्रोत है, वह अभी दबा हुआ है, और जो अनन्त प्रकाश है, वह अभी संकीर्ण हो गया है, सीमित हो गया है और धुंधला हो गया है। इस प्रकार दो बातें हमारे सामने आती हैं। एक यह कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है, और दूसरी यह कि परमात्मा सर्वव्यापक है। जैन दृष्टिकोण के साथ इसका समन्वय करें, तो मात्र कुछ शब्दों के जोड़-तोड़ के सिवा और कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देगा। हमारे पास समन्वय बुद्धि है, अनेकान्त दृष्टि है और यह दृष्टि तोड़ना नहीं, जोड़ना सिखाती है—सत्य को खण्डित करना नहीं, बल्कि पूर्ण करना बताती है। सर्वव्यापक शब्द को हम समन्वय बुद्धि से देखें, तो इसका अर्थ होगा, आत्मा अपने स्वार्थों से निकल कर आसपास की जनता के, समाज के तथा देश के और अन्ततः विश्व के प्राणियों के प्रति जितनी दूर तक दया, करुणा और सद्भावना की धारा बहाती चली जाती है, प्रेम और समर्पण की वृत्ति जितनी दूर तक जगती चली जाती है, उतनी ही वह व्यापक बनती जाती है। हम आन्तरिक जगत् में, जितने व्यापक बनते जाएँगे, हमारी सद्वृत्तियाँ जितनी दूर तक विस्तार पाती जाएँगी और उनमें जन-हित की सीमा जितनी व्यापक होती जाएगी, उतना ही ईश्वरीय अंश हमारे अन्दर प्रकट होता जाएगा। जितना-जितना ईश्वरत्व जागृत होगा, उतना-उतना ही आत्मा परमात्मा के रूप में परिणत होता चला जाएगा।

सुख बाँटते चलो :

आपका परमात्मा आपके अन्दर कितना जागृत हुआ है, इसको नापने का 'बैरोमीटर' भी आपके पास है। उस 'बैरोमीटर' से आप स्वयं को भी जान पाएँगे कि अभी आप कितने व्यापक बने हैं ! कल्पना कीजिए, आप के सामने आप का परिवार है, उस परिवार में बूढ़े माँ-बाप हैं, भाई-बहन हैं और दूसरे सगे-सम्बन्धी भी हैं। कोई रोगी भी है, कोई पीड़ित भी है। कोई ऐसा भी है, जो न तो कुछ कमा सकता है और न ही कुछ श्रम कर सकता है। ऐसे परिवार का उत्तरदायित्व आपके ऊपर है। इस स्थिति में आपके मन में कल्पना उठती है कि "सब लोग मेरी कमाई खाते हैं, सब के सब बेकार पड़े हैं, अन्न के दुश्मन बन रहे हैं, काम कुछ नहीं करते। बूढ़े माँ-बाप अभी तक परमात्मा की शरण में नहीं जा रहे हैं, जब बीमार पड़ते हैं, तो उन्हें दवा चाहिए, यह चाहिए, वह चाहिए। और, इस कुण्ठित विचार के बाद आप उन्हें उपदेश दें कि अब क्या रखा है संसार में ? छोड़ो संसार को। बहुत दिन खाया-पीया। कब तक ऐसे रहोगे ? आखिर तो मरना ही है एक दिन।' यह उपदेश तो आपका काफी ऊँचा है, बहुत पहुँची हुई बात है आपकी, पर आपका दृष्टिकोण कहाँ तक पहुँचा है, यह भी तो देखिए। वास्तव में आप यह उपदेश किसी सहज वैराग्य से प्रेरित हो कर दे रहे हैं, या अपने सुख का और सुख के साधनों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो बँटवारा हो रहा है, उसे रोकने के लिए दे रहे हैं ? जो समय और श्रम आपको उनकी सेवा में लगाना पड़ रहा है, उससे ऊब कर ही तो आप यह वैराग्य की बात कर रहे हैं ? यदि अपने स्वार्थ और सुख के घेरे में बन्द होकर ही आप यह वैराग्य की बात करते हैं, तो फिर सोचिए कि जब आप अपने परिवार में ही व्यापक नहीं बन पा रहे हैं, माता-पिता तक के हृदय को अभी तक स्पर्श नहीं कर सके हैं। उसके लिए भी कुछ त्याग और बलिदान नहीं कर सकते हैं, भाई-बहनों के अन्तस्तल को नहीं छू सकते हैं, तब समाज के हृदय तक पहुँचने की तो बात ही क्या करें ? यदि परिवार की छोटी-सी चारदीवारी के भीतर भी आप व्यापक नहीं बन पाए हैं, तो वह विश्वव्यापी परमात्मतत्त्व आप में कैसे जागृत होगा ? अपने सुख को माता-पिता और भाई-बहनों में भी आप नहीं बाँट सकते, तो समाज को बाँटने की बात कैसे सोची जा सकती है ?

विचार कीजिए—घर में आपका पुत्र पौत्रादि का परिवार है, आपका सहोदर भाई भी है, उसका भी परिवार है, पत्नी है, बाल-बच्चे हैं—लड़के-लड़कियाँ है। अब आपके मन में अपने लिए अलग बात है, अपने भाई के लिए अलग बात है। अपनी पत्नी के लिए आपकी मनोवृत्ति अलग ढंग की है और भाई की पत्नी के लिए अलग ढंग की। लड़के-लड़कियों के लिए भी एक भिन्न ही प्रकार की मनोवृत्ति काम कर रही है। इस प्रकार घर में एक परिवार होते हुए भी मन की सृष्टि में अलग-अलग टुकड़े हैं, सब के लिए अलग-अलग खाने हैं और अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। एक ही रक्त के परिवार में इन्सान जब इस प्रकार खण्ड-खण्ड होकर चलता है, क्षुद्र घेरे में बँट कर चलता है, तब उससे समाज और राष्ट्रिय-क्षेत्र में व्यापकता की क्या आशा की जा सकती है ?

मैं विचार करता हूँ, मनुष्य के मन में जो ईश्वर की खोज चल रही है, परमात्मा का अनुसन्धान हो रहा है, क्या वह सिर्फ एक धोखा है ? वंचना मात्र है ? क्या हजारों-लाखों मालाएँ जपने मात्र से ईश्वर के दर्शन हो जाएँगे ? व्रत और उपवास आदि का नाटक रचने से क्या परमात्म-तत्त्व जागृत हो जाएगा ? जब तक यह अलग-अलग सोचने का दृष्टिकोण नहीं मिटता, मन के ये खण्ड-खण्ड सम्पूर्ण मन के रूप में परिवर्तित नहीं होते, अपने समान ही दूसरों को समझने की वृत्ति जागृत नहीं होती, अपने चैतन्य देवता के समान ही दूसरे चैतन्य देवता का महत्त्व नहीं समझा जाता, अपने समान ही उसका सम्मान नहीं किया जाता और अपने प्राप्त सुख को इधर-उधर बाँटने का भाव नहीं जगता, तबतक आत्मा परमात्मा नहीं बन सकता। जब आप सोचेंगे कि जो अभाव मुझे सता रहे हैं, वे ही अभाव दूसरों को भी पीड़ा देते हैं। जो सुख-सुविधाएँ मुझे अपेक्षित हैं, वे ही दूसरों को भी अपेक्षित हैं। अतः जो संवेदन, अनुभूति स्वयं के लिए की जाती है, उसी तीव्रता से जब वह दूसरों के लिए की जाएँगी, तब कहीं आप के अन्तर् में विश्वात्म-भाव प्रकट हो सकेगा।

विश्वात्मानुभूति :

इधर-उधर के दो-चार प्राणियों को बचा लेना या दो-चार घण्टा या कुछ-दिन अहिंसा व्रत का पालन कर लेना, अहिंसा और करुणा की मुख्य भूमिका नहीं है। विश्व-समाज के प्रति अहिंसा की भावना जब तक नहीं जगे, व्यक्ति-व्यक्ति में समानता और सह-जीवन के संस्कार जब तक नहीं जन्में, तब तक अहिंसक-समाज-रचना की बात केवल विचारों में ही रहेगी। समाज में अहिंसा और प्रेम के भाव जगाने के लिए व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा। अपने-पराए के ये क्षुद्र घेरे, स्वार्थ और इच्छाओं के ये कलुषित-कठघरे तोड़ डालने होंगे। विश्व की प्रत्येक आत्मा के सुख-दुःख के साथ ऐक्यानुभूति का आदर्श, जीवन में लाना होगा। भारतीय-संस्कृति का यह स्वर सदा-सदा से गूंजता रहा है—

> **"अयं निजः परो वेत्ति गणना लघु-चेतसाम्।**
> **उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हृदय की गहराई से निकले हुए ये स्वर परमात्म-चेतना के व्यापक स्वर हैं। जहाँ परमात्मतत्त्व छिपा बैठा है, आत्मा के उसी निर्मल उत्स से वाणी का यह निर्झर फूटा है। यह मेरा है, यह तेरा है, इस प्रकार अपने और पराए के रूप में जो संसार के प्राणियों का बँटवारा करता चला जाता है, उसके मन की धारा बहुत सीमित है, क्षुद्र है। ऐसी क्षुद्र मनोवृत्ति का मानव समाज के किसी भी क्षेत्र में अपना उचित दायित्व निभा सकेगा, अपने परिवार का दायित्व भी ठीक से वहन कर सकेगा, जो जिम्मेदारी कंधों पर आ गई है उसे ठीक तरह पूरी कर सकेगा—इसमें शंका है। कभी कोई अतिथि दरवाजे पर आए और वह उसका खुशी से स्वागत करने के लिए खड़ा हो जाए तथा आदर और प्रसन्नतापूर्वक अतिथि का उचित स्वागत करे—यह आशा उन मनुष्यों से नहीं की जा सकती, जो 'अपने-पराए' के दायरे में बँधे हुए हैं। किस समय उनकी क्या मनोवृत्ति रहती है, किस स्थिति में उनका कौन अपना होता है, और कौन पराया होता है—यह सिर्फ उनके तुच्छ स्वार्थों पर निर्भर रहता है, और कुछ नहीं।

इसके विपरीत जिनके मन के क्षुद्र घेरे टूट गए हैं, जो स्वार्थों की कैद से छूट गए हैं, उनका मन विराट् रहता है। विश्व-मंगल और अभ्युदय की निर्मल धारा उनके हृदय में निरन्तर बहती रहती है। विश्व की आत्माओं के सुख-दुःख के साथ उनके सुख-दुःख बँधे रहते हैं। किसी प्राणी को तड़पते देखकर उनकी आत्मा द्रवित हो उठती है, फलस्वरूप किसी के दुःख को देखकर सहसा उसे दूर करने के लिए वे सक्रिय हो उठते हैं। उनका कभी कोई पराया होता ही नहीं। सभी अपने होते हैं। सब घर, अपने घर ! सब समाज, अपना समाज ! अपने परिवार के साथ उनका जो स्नेह-सौहार्द है, वही पड़ोस के साथ, वही मोहल्ले वालों के साथ और वही गाँव, प्रान्त और राष्ट्र के साथ। उनका यह व्यापक स्नेह और सौहार्द नितांत निश्छल एवं निर्मल होता है। उसमें वैयक्तिक स्वार्थ की कोई गन्ध नहीं होती। आज की तरह इनका प्रान्तीय स्नेह केवल राजनीतिक स्वार्थ साधने का हथियार नहीं होता है। आज सब ओर नारे लग रहे हैं, 'अपना प्रान्त अलग बनाओ, तभी उन्नति होगी।' वस्तुतः देखा जाए, तो इन तथाकथित नेताओं को प्रान्त की उन्नति की उतनी चिन्ता नहीं है, जितनी कि स्वयं की उन्नति की चिन्ता है। प्रान्त का भला कुछ कर सकेंगे या नहीं, यह तो दूर की बात है, पर अपना भला तो कर ही लेंगे। जन-सेवा हो, या न हो, किन्तु अपने राम की तो अच्छी सेवा हो ही जाएगी। सेवा का मेवा मिल ही जाएगा। प्रान्त और देश में दूध-दही की नदी तो दूर, पानी की नहर या नाला भी बने या न बने, पर अपने घर में तो सम्पत्ति की गंगा आ ही जाएगी। आज के ये सब ऐसे स्वार्थ और क्षुद्र विचार हैं, जिनसे देश के खण्ड-खण्ड हो रहे हैं, मानवता के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। जातिवाद, प्रान्तवाद, सम्प्रदायवाद आदि कुछ ऐसी कैंचियाँ हैं, जिनसे इन्सानों के दिल काटे जाते हैं, मानवता के टुकड़े किए जाते हैं, और अपने पद प्रतिष्ठा, और सुख-ऐश्वर्य के प्रलोभन में मानव जाति का सर्वनाश किया जाता है। जो इन सब विकल्पों से परे मानव का 'शुद्ध मानव' के रूप में दर्शन करता है, उसे ही अपना परिवार एवं कुटुम्ब समझता है, वह व्यापक चेतना का स्वामी नर के रूप में नारायण का अवतार है।

कल्पना कीजिए, आप किसी रास्ते से गुजर रहे हैं। आपने वहाँ किसी बच्चे को देखा, जो घायल है, वेदना से कराह रहा है। आपका हृदय द्रवित हो गया और आपके हाथ ज्यों ही उसे उठाने को आगे बढ़ते हैं, आवाज आती है, यह तो 'चण्डाल' है, भंगी है और आप सहसा रुक गए। इसका क्या अर्थ हुआ ? आप में अहिंसा और करुणा की एक क्षीण ज्योति जली तो थी, पर जातिवाद की हवा के एक हल्के-से झोंके से वह सहसा बुझ गई। आप करुणा को भूलकर जातिवाद के चक्कर में आ जाते हैं कि यह तो भंगी का लड़का है, भला इसे मैं कैसे छू सकता हूँ ? चमार का लड़का है, कैसे उठाएँ ? इस क्षुद्र भावना की गन्दी धारा में बह जाते हैं आप, जहाँ प्रेम का पवित्र जल नहीं, किन्तु जातिवाद का गन्दा पानी बहता है। आपके मन में ऐसे समय में यह भावना होनी चाहिए कि जो वेदना से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कराह रहा है, वह आत्मा है। शरीर का जन्म चाहे जहाँ हुआ हो, चाहे जिस घर में हुआ हो, आत्मा का जन्म तो कहीं नहीं होता। आत्मा, तो आत्मा है। वह ब्राह्मण के यहाँ हो तो क्या, शूद्र के यहाँ हो तो क्या? हम तो आत्मा की सेवा करते हैं, शरीर की नहीं।

आत्मा की सेवा करनी है, तो फिर शरीर के सम्बन्ध में यह क्यों देखा जाता है कि यह भंगी का शरीर है, या चमार का? भंगी और चमार की दृष्टि यदि है, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि आपने अब तक आत्मा को आत्मा के रूप में ठीक तरह देखा ही नहीं। आत्मा के नहीं, शरीर के ही दर्शन आप कर रहे हैं। बाहर में जो जाति-पाँति के झगड़े हैं, दायरे हैं, आप अभी तक उन्हीं में बन्द हैं। आत्मा न भंगी है, न चमार है, न स्त्री है, न पुरुष है और न काला है, न गोरा है। आत्मा-आत्मा में कोई भेद नहीं है। आत्मा में परमात्मा का वास है। वस्तुतः जो आत्मा है, वही परमात्मा है। ये उदात्त विचार, यह विशाल दृष्टिकोण जबतक आपके हृदय में जागृत नहीं होता, तबतक आप परमात्मतत्त्व की ओर नहीं बढ़ सकते। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य परस्पर में भेद की दीवारें खड़ी कर देता है, अपने मन में इतने क्षुद्र घेरे बना लेता है, उसकी दृष्टि जातीयता के छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाती है, तो वह अपने ही समान मानव जाति की सेवा और सहायता नहीं कर पाता।

भारतीय संस्कृति की विराट् भावनाएँ, उच्च अवधारणाएँ यहाँ तक पहुँची है कि यहाँ साँप को भी दूध पिलाया जाता है। संसार भर में भारत ही एक ऐसा देश मिलेगा, जहाँ पशु-पक्षियों के भी त्योहार मनाये जाते हैं। नाग पंचमी आई तो साँप को दूध पिलाया गया, गोपाष्टमी आई तो गाय और बछड़े की पूजा की गई। 'सीतला' (राजस्थान का त्योहार) आई तो बिचारे गर्दभराज को पूजा प्रतिष्ठा मिल गई। यहाँ की दया और करुणा का स्वर कितना मुखर है कि जो साँप दूध पीकर भी जहर उगलता है, मनुष्य को काटने के लिए तैयार रहता है, जो मनुष्य के प्राणों का शत्रु है, उसे भी दूध पिलाया जाता है, शत्रु को भी मित्र की तरह पूजा जाता है।

जहाँ पर दया और करुणा का, पवित्र मानवता का इतना उच्च विकास हुआ है, वहाँ मानव आज अपने ही स्वार्थों और इच्छाओं का दास बना हुआ है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के प्राणों से खेल रहा है। जबतक ये वासना और विकार के बंधन नहीं टूटते, स्वार्थ की बेड़ियाँ नहीं टूटतीं, तबतक मनुष्य अपने आप में कैद रहेगा। और अपने ही क्षुद्र घेरे में, पिंजड़े में बन्द पशु की तरह घूमता रहेगा। संसार का तो क्या भला करेगा वह, स्वयं अपना ही भला नहीं कर सकेगा।

जब तक मानव-मानव के मन में यह भावना गहराई में उतर न जाएगी कि—"हम सभी एक ही प्रभु की सन्तान हैं, सबके अन्दर एक ही प्रभु विराजित है, अतः हम सभी भाई-भाई हैं"—तबतक किसी बन्धुभाव-स्थापना की कल्पना करना मात्र कल्पना ही रहेगी। भेद-मुक्त सर्वतोमुखी व्यापक विचार-चेतना ही विश्व-बन्धुता का मूलाधार है। चिंतन एवं विचार की यही एक स्वस्थ, सही एवं सुगम पीठिका है, जहाँ मानव-मन के अन्दर 'वसुधैव कुटुम्बम्' की विराट् भावना का उदय हो सकता है। विश्व-कल्याण एवं विश्व-शान्ति की, विराट् कामना, तभी पूरी हो सकती है, अन्यथा नहीं।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org